

## राजस्थानी लघुचित्रण परम्परा में निहित अतिकल्पनात्मक दृष्टि और लोक मानस

निहारिका राठोड़ एवं एम.एस. राठोड़

### सारांश

कला पर विचार करते हैं तो सर्वप्रथम कला इतिहास पर समग्र दृष्टि डालते हैं। सदियों से देखा जा सकता है कि समाज ही कला की रचनात्मकता के प्रतिरूपण में धर्म अथवा संस्कृति रूप में स्थित होता है। सर्वज्ञात तो यह भी है कि सामाजिक ढँचे की दृष्टि से व्यक्ति एक परिवार और फिर समाज रूप में विकसित होता है। यह व्यवस्थित कड़ी समूचित रूप में भारतीय कलाधारा में भी अपना विशेष अस्तित्व रखती है। परन्तु इस कलात्मक क्षेत्र में असीम सम्भावनाओं से युक्त कई विषय ऐसे भी हैं जो अपनी मौलिक विशेषता रखते हैं और साथ ही शोध-वृत्ति की दृष्टि से स्वाभाविक ही ऐतिहासिक गर्भ में विशेषताओं को एकत्रित किये हुए कुछ चुनिंदा विषय जिनका उल्लेख, विवरण, मत, पूर्वोल्लेखित विवरणों से नितान्त भिन्न अपना विशेष स्थान रखते हैं। इस प्रकार की व्यवस्थित विचारधारा में भारतीय समाज के सांस्कृतिक सरोकार में 'मातृत्व भाव' अप्रतीम और रुचिपूर्ण विषय है।

संकेताक्षरः आध्यात्मिक; पराशक्ति; प्रकृति; मातृत्व भाव; मातृ रूपाकार; मृगमूर्तियां; मातृसत्तात्मक; मातृदेवी; सौन्दर्यभाव.

हृदय में उठे उदगारों को व्यक्त करने और सम्प्रेषित करने का साधन है 'कला'। यद्यपि भाषा में शब्द-व्यंजना, से भाव अभिव्यक्त होते हैं परन्तु इन शब्द रूपों के अर्थसार को रूपायित कर देने से अभिप्राय अधिक स्पष्ट कर जनमानस तक ये त्वरित सम्प्रेषित होते हैं क्योंकि मानव अपनी सहज आत्मिक प्रवृत्ति के आग्रह से कलारूपों के प्रति आकृष्ट होता है। यही प्रवृत्ति कलान्तर में प्रचलित संस्कारों, आस्था, दर्शन एवं सामाजिक सरोकारों से संबद्ध होकर कला रूपों में अभिव्यक्त होती है। भारतीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परम्परा की समाज में सुदृढ़ प्रस्थापना के पीछे यही तत्व महत्वपूर्ण है जो जनसामान्य में 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' के भाव रूप में परिलक्षित करता है। 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' की दार्शनिक अवधारणा भारतीय कला एवं संस्कृति का मूलाधार है। जो काल कालान्तर में भारतीय कला के विभिन्न कालखण्डों के अलग-अलग स्वरूपों में अभिव्यक्त हुआ, चाहे वो वैदिक काल से गुप्तकाल की कला एवं साहित्यिक युगधारा का प्रवाह हो या मध्यकाल के भक्तिकालीन एवं श्रृंगारपरक साहित्य से आधुनिक काल के स्वतन्त्रता आन्दोलन तक का पुनरुत्थानकालीन आग्रह हो। सभी में भारतीयता का भाव ही महत्वपूर्ण रूप से आधार विचार के रूप में मुखरित अथवा पुष्ट हुआ है जो भारत और भारतीय जनमानस की आत्मा को अभिव्यक्त करता है। चूंकि विषय का आग्रह मध्यकालीन पृष्ठभूमि से सम्बद्ध है जो उस काल के लोकमानस और साहित्यिक आग्रह से संघरित भावधारा का कलात्मक स्वरूप लघुचित्रण के रूप में व्यवस्थित था जिसको मैंने लोकव्यवहार और सामाजिक सरोकारों के संदर्भ में कला के विभिन्न पक्षों के माध्यम से रेखांकित करने की चेष्टा की है।

राजस्थानी लघुचित्रण परम्परा में "अतिकल्पना" का भाव प्राचीनतम भारत का शाश्वत स्वरूप है और यहाँ की दार्शनिक एवं सांस्कृतिक धारा से ओतप्रोत है। सनातन धर्म की वैदिक परम्परा के मूल में यह विश्वास है कि इस विश्व का संचालन पूर्णरूप से किसी नियम के अनुसार हो रहा है, ' भारतीय दर्शन में ब्रह्मांड की भी चित्रमय

कल्पना की गई है। लोकस्तर को ध्यान में रखते हुए कल्पित किया कि ब्रह्मांड सृष्टि पूर्व एक अंड स्वरूप था और उसके फूटने के बाद बाह्य कलेवर से रजत खाण्ड तथा स्वर्ण खाण्ड, ऐसे दो हिस्से हुए। रजत खाण्ड पृथ्वी और स्वर्ण खाण्ड द्युलोक (तारे और सूर्य, प्रकाशमान द्युत पदार्थों का लोक) बना। सूक्ष्म अण्ड और स्थूल अण्ड बादल व कोहरा बने। धमनियाँ नदियाँ, वस्तिगत जल सागर बना। अंड से आदित्य का जन्म हुआ और नाद ब्रह्म का आगमन हुआ<sup>2</sup>

– छंदोग्य उपनिषद्, अध्याय 3, खण्ड 19

उपरोक्त संदर्भ इस बात की पुष्टि करता है कि भारतीय परम्परा में कल्पना से परे भी एक उत्कृष्ट विद्या है अतिकल्पना जो किसी सन्दर्भ या विचार के सत्य को समझने हेतु सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्त करने में सहायक है और वह अधिक नवीन रूप में स्पष्ट होता है। ऐसा ही प्रतीकों के यथार्थ के भाव को बौद्धिक चेतन से लौकिक स्तर को समझाया है। यह सत्य है कि मानव की सहज बौद्धिकता यथार्थवाद को तुरन्त सहमति दे देता है परन्तु सर्वस्वीकृत बात यह भी है कि बौद्धिकता के साथ ऐसे विचारों का प्रेषण जनमानस के मस्तिष्क को रोमांचित कर नये संसार को सृजित करता है। भारतीय दर्शन का 'त्रिक' 'सत्य-शिव-सुन्दरम' का भाव चित्रकला के माध्यम से लोकमन को परिपुष्ट करता है। शिवत्व अर्थात् कल्याण के भाव से सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति और जनकल्याण की झांकी से ओत-प्रोत 'अतिकल्पनात्मक' चित्रण लोकमानस के वृहद् दृष्टिकोण को स्पंदित करता है।

भारतीय परम्परा में अतिकल्पना का सम्बन्ध परायथार्थ से है। अतिकल्पना 'सत्य' वाचक है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पश्चिम में अलियथार्थवाद का उल्लेख होता है। 'अतिकल्पना का सामान्य अर्थ ऐसी अतिकल्पना से है जो व्यवहार में संभाव्य प्रतीत तो नहीं होती परन्तु वैचारिक स्तर पर अथवा अनुभूतियों में इनका अस्तित्व होता है। ये भाव शब्द अंग्रेजी के 'फैंटेसी' के निकट है। परन्तु ये एक-दूसरे से पूरक भी हैं तो अर्थ में भिन्न भी। कल्पना के समीप होते से इसको विलक्षण-कल्पना के अर्थ में हम समझ सकते हैं।<sup>3</sup> अतिकल्पना- दर्शन एवं अध्यात्म के आग्रह को सामाजिक सरोकारों से जोड़कर आदर्श समाज एवं व्यक्ति के निर्माण की बात करती है। फैंटेसी ऐसे दुरस्थ और अदृश्य बिम्बों को एक समीकरण या संयोजन में लाती है, जिनमें धर्म साम्य, गुण साम्य एवं रूप साम्य की दृष्टि से अनुकूलता का अंश न्यून रहता है।<sup>4</sup> अपार संभावनाओं से युक्त 'अतिकल्पना' का भाव भारतीय कला-दर्शन में मानस-चित्र का यथार्थ अंकन है। ध्यानावस्था में जो देखा गया उसको चित्र रूप में वर्णन करना 'अतिकल्पना' है जैसे ईश्वर को कलारूपों में अंकन करना क्योंकि ईश्वर को किसने देखा है वह तो निराकार है वह किसी रूप में नहीं है वह तो 'सर्वोच्च-शक्ति' है। जिस शक्ति को हमारी ऋषि चिंतन परम्परा ने अलग-अलग स्वरूपों में देखा, समझा तथा दृश्यानुभूति के इस तत्व को कला में आध्यात्मिक, सौन्दर्ययुक्त एवं भावपूर्ण रूप में ठीक वैसे ही वर्णित किया जिसको लोकमानस अपने जीवन में यथार्थपरक मूल्यों की दृष्टि से देखता है।

कल्पित संभावना को यथार्थ में चित्रित कर यथार्थपरक बनाने व रहस्योद्घाटन से कला अपना संदेश समाज तक पहुंचाती है। क्योंकि वास्तविक जीवन का आधार 'सत्य' पर आधारित है और सत्य प्रकृतिचक्र पर आधारित है और प्रकृतिचक्र सृजन का चक्र है और वही ब्रह्म शक्ति है।

इस पल्लवित, पुष्पित अतिकल्पना का दार्शनिक फलित बीज वेदों में निहित है, जहाँ भूलोक से लेकर आपोलोक का संस्पर्श है जो वर्ण, वर्ग, आश्रम, पुरुषार्थ आदि भावों में विलीन है ये सभी पक्ष घनिष्ठ रूप से एक-दूसरे से सबद्ध भावों का बोध कराती है। वेद दर्शन रूप में स्थूल सादृश्य से लेकर बिम्ब रूप में अंकुरित है और लोकमानस 'श्रुति' और 'स्मृति' के आधार पर कल्पना कर अपने भावों को सृजनात्मक अभिव्यक्ति देता है।

ऋग्वेद में भी चित्रांकन का संकेत विद्यमान है और वह लोकमन को ध्यान में रखकर व्याख्यायित है। कठोपनिषद् में उल्लेखित है कि 'रूप का धर्म है प्रतिबिम्बित होना, कल्पित होना अथवा छन्दित होना अर्थात् गुण-धर्म के आधार पर हमें जब कोई स्वरूप का ज्ञान होता है तो हमारे अन्तस में एक प्रतिबिम्ब उभरता है अतः अंदर से रूप

का प्रकट होना। यह बात 'मुंडकोपनिषद्' में विस्तृत किया गया है।

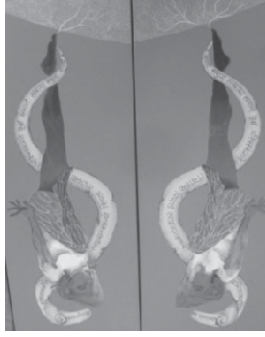
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,

समानं वृक्षं परिणस्वजाते।

तयोरुवः पिप्पल,

स्वाद्भव्य च न्याऽभिमाकशीति॥

अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा का शब्द चित्र अतिकल्पनात्मक रूप से साकार किया गया है कि दो सुपर्ण (सौन्दर्य से युक्त) पक्षी एक ही वृक्ष पर छायातप के समान वास करते हैं। जब एक पक्षी उस पीपल वृक्ष का भोग कर रहा होता है तो दूसरा पक्षी साक्षी भाव से देख रहा होता है ये जीव रूपी भोगी पक्षी है जो भूमि पर वास करता है और देखने का भाव रखने वाला पक्षी परमात्मा है यहाँ परमात्मा अरूप है परन्तु उसकी गुण व्याख्या हेतु रूप में ढाल कर शब्द रचनाकार शब्दों से व्याख्या करता है और चित्रकार, चित्रकला के माध्यम से समझाने की चेष्टा करता है। अतः भाव-भूमि को चित्र के विधान से कल्पित करना कलाकार का धर्म हो जाता है।



चित्र सं. 1

राजस्थानी लघुचित्रण कला, धर्म, दर्शन और समाज को दृष्टि में रखते हुए भारतीय मनीषियों ने माना कि निरपेक्ष की सापेक्ष अभिप्रायों में अंकित करना हमारे नैतिक मूल्यों को साकार करने जैसा है। निराकार आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप को सांसारिक स्तर पर और भाव के माध्यम से व्यक्त किये जाने से सृजन स्पष्ट हो जाता है।

राजस्थानी लघुचित्रण परम्परा में नैतिक मूल्यों में अतिकल्पना का भाव और भी प्रगाढ़ है। भावाभिव्यंजना रूप में देवीय अंकन, कृष्णलीला, राग-रागिनी, षड्भ्रतुवर्णन, बारहमासा, नायक-नायिका भेद, वेद-पुराण, रामायण, महाभारत, हितोपदेश, पंचतन्त्र और ऐसे कितने इहलोक साहित्यों के विषयों पर भी अतिकल्पनात्मक चित्रण हुआ। जहाँ अतिकल्पना की बात है वह अपने विचार से वास्तविक 'भूमि' में उतरकर धर्म, दर्शन, समाज के जीवन मूल्यों को उन्नत करता है। तेन व्यक्तेन भुंजीथा, वसुधैव कुटुम्बकम् और अहं ब्रह्मास्मि का आधार सार्वभौमिक शाश्वती रूप में रहा। जिसको कला के माध्यम से जनमानस में उतारकर अपनी अवधारणा को मूर्त रूप दिया।

अतिकल्पना का अर्थ मिथक से नहीं है जो मन में आया वह चित्रित कर दिया ऐसा भी नहीं है। हम राजस्थानी लघुचित्रों को देखेंगे तो पायेंगे कि इनके पीछे एक अदृश्य शक्ति कार्य करती है अथवा प्रकृति के मूलभूत सत्य का

शाश्वत विचार क्रियाशील रहता है। जहाँ प्रकृति और पुरुष के भेद और अभेद का साख्य दर्शन परिलक्षित या पुष्ट होता है जो किसी न किसी रूप में अपने विचारों का सम्प्रेषण लोकमानस तक प्रेरणा के रूप में करती है और लोकमानस उसे प्रेरणा स्रोत मानता है और जीवन में अंगीकृत कर लेता है। देवी के स्वरूप को वह आदर्श मानता है और अंकित करने हेतु देवी के गुणों पर आधारित मानसचित्र स्वरूप की कल्पना कर उसे सादृश रूप में देखने हेतु चित्रित करता है और जीवन मूल्यों को उन्नत करने हेतु उसे अपना आदर्श स्वरूप मानता है।

राजस्थानी कला परम्परा में अतिकल्पना का आग्रह हमें साहित्य, मूर्तिशिल्प और लघुचित्रण परम्परा में बहुत ही सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त होता है।

इनके द्वारा लोक-मानस में मूल्यपरक दर्शन स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। कला प्रवाह की दृष्टि से लोकमानस को वे तर्कहीन 'आस्था के बिम्ब' मूर्त रूप से मिलते हैं जिनसे उनकी जीवनचर्या में नैतिक मूल्यों का समावेश होता है और भावाभिव्यजना आत्मलाभ के रूप में हरी-भरी हो जाती है। जिसमें भौतिक द्वन्दो की सत्ता ही विनिष्ट हो जाती है।<sup>6</sup> अतः भावप्रवण और जनकल्याण हेतु किये गये चित्रण में राजस्थानी अतिकल्पनिक चित्र जीवन में अभिव्यजना के माध्यम से विभिन्न उपादानों द्वारा उतरते हैं।

राजस्थानी चित्रों का आधार ही संगीत युक्त, प्रतीक युक्त, संस्कारों में नैतिक उपादानों को स्पष्ट करता है। राग-रागिनी चित्रों में रागों के आधार पर चित्रण या ऋतु वर्णन में पात्रों का ऋतु के अनुकूल मनःस्थिति इत्यादि लाक्षणिक वृत्तियाँ अतिकल्पना के रूप में अंकित हुई हैं या फिर उन चित्रों का संकलन जिनका सम्बन्ध तंत्र से है। वैज्ञानिकतत्व, अनुष्ठानिक, कर्मकाण्ड और धार्मिक संस्कारों को यन्त्र, प्रतीक जैसे सृजन स्वरूपों का अतिकल्पनात्मक रूपान्तरण इन लघुचित्रों में हुआ है।<sup>6</sup> कल्पना से कल्पनातीत रूप में विश्वस्वरूप दर्शन जैसे लघुचित्र में ईश्वर को व्यापक कला अभिप्रायों से सुसज्जित किया जिससे ईश्वर की देवीय सत्ता इस भूलोक के जनसामान्य तक पहुँच सके। जब देवता का चित्रण किया जाता है तो देवीय वृत्तियाँ जिसमें सहस्र हाथ, आभायुक्त मुखमण्डल है और विश्व स्वरूप की बात हो तो अधिक से अधिक स्वरूपों को एक साथ एक चित्र में अभिव्यक्त करने की चेष्टा कलाकार करता है, जिससे समाज में धर्म के माध्यम से रहस्यात्मक सत्य को मूल्यों के रूप में व्यक्ति आत्मसात कर सके।

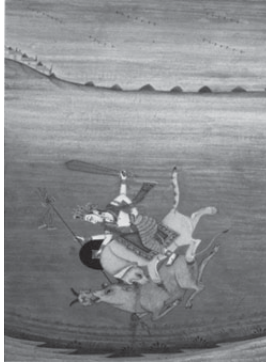


चित्र सं. 2

1896 ई. में यूरोप के कला-समीक्षक ई.बी. हैवल ने यह स्पष्ट किया था कि "भारतीय कला पद्धति मानव मन की सर्वोच्च स्पष्ट अभिव्यक्ति है।"<sup>7</sup> इसी भाव से ओत-प्रोत एक चित्रकार/कवि अपनी रचना करता है और

जनमानस तक पहुँचाता है। रावण रथि, विरथ रघुवीरा इस भाव के साथ यदि चित्रकार चित्र रचना करता है तो कल्पना करता है कि तपस्वी राम नंगे पाँव हैं और पृथ्वी पर रावण से युद्ध कर रहे हैं और रावण को रथ पर आरूढ़ बनाएगा। इसमें अतिकल्पना जैसे तत्व नहीं होंगे परन्तु फैंटेसी की बात होती है जैसे हनुमान का बड़ा रूप धार लेना एवं चींटी की भाँति छेटा हो जाना। इसके भी आगे कि हनुमान रावण के यहाँ उड़कर सौ योजन का समुद्र पार कर रहे हैं और आकाश को पक्षी की तरह स्पर्श करते हुए लंका पहुँचते हैं अतिकल्पना का भाव यहाँ पर इस रूप में है कि एक पक्षी का उड़ने हुए चित्रित किया जाना सामान्य है परन्तु वानर के पंख विहीन शरीर में पक्षी जैसी उड़ने की क्षमता चित्र में चित्रित कर दिया जाना। ऐसे में इस सन्दर्भ को गुण धर्म के आधार पर सामान्य जन तक पहुँचाने हेतु ऐसा चित्रण स्वाभाविक है।

राजस्थानी लघुचित्रों में लोकाधारित चित्रणों का समावेश रहा कि इन चित्रा. के माध्यम से देववृत्ति, पौरुष वृत्ति या भयवृत्ति उत्पन्न करना तथा जनचेतना हेतु ऐसे चित्रणों का सहा. रा लेना जिससे उनके समाज में नैतिक आचार-विचार का समायोजन हो। मेवाड़ी चित्रों के संकलन में जे.पी. लोस्टी द्वारा संकलित इस चित्र में अतिकल्पना को आधार मानकर चित्रित किया गया है। ये ही नहीं राक्षस की कल्पना भंगकर मुखाकृति हेतु केनाइन ;दंढपदमद्ध दातों को बना देना, सींग लगा देना, पशुवृत्ति दिखाने हेतु लम्बी पूंछ, लम्बे नाखून, निकली जीभ चित्रित कर देना यानि राक्षसी गुणों के आधार पर चित्रित कर देना महादानव बना कर प्रस्तुत करने के पीछे यह ही भाव रहे होंगे कि ऐसी पशुवृत्ति सदैव दुखदायी होती है। लोकमन में सद्भावना का भाव खलने के प्रयोजन से ऐसे अतिकल्पना वाले चित्र चित्रित किये गये। महाराणा सांगा के काल का 'ऊखल-बन्धन' स्वर्ग से परिजात वृक्ष को पृथ्वी लोक पर लाना। मेवाड़ी चित्रण परम्परा का श्रेष्ठ अतिकाल्पनिक चित्र है या फिर बीकानेर शैली की चर्तुभुजी देवी जो वेगपूर्वक महिषासुर का मर्दन करती, भैंसे का भक्षण करने को आतुर सिंह के साथ अतिथथार्थ के तात्पर्य को सुनिश्चित किया गया है कि सिंह के साथ भैंसे का ही अंकन किया जाना वहाँ उचित था। दुर्गासप्तशती का आधार लेकर बनाया गया यह चित्र रोमांचक कल्पना से अंगीकृत है। दूसरी ओर राजस्थानी चित्र शैली में राग-रागिनियों का चित्रण श्रृंगारिक दृष्टि से व्यवहार रूप में निबद्ध है; जिसको लोक सृष्टि में चित्रित किया है। राजस्थानी लघुचित्रण कला शैलियों में इनका अंकन हुआ है जैसे- दीपक राग या रागिनी मेघ मल्हार पृष्ठभूमि का चित्रण अतिकल्पना की दृष्टि से राग को आधार मान कर किया है।



चित्र सं. 3

यथा मध्यकालीन राजस्थानी लघुचित्रों में अतिरंजना आधारित सांगितिक- प्रकृति, राग-रागिनियों जैसे प्र. तिकात्मक चित्रण लोकमानस के लिए सामान्य जीवन में नीतिपरक, रंजन, आचार-विचार आदि रूप में विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार के लघुचित्र आस्था रूप में मानव मन के भाव पात्रों को मनोविज्ञान से पूरित करता है

और मूल्यपरक समाज को अतिकल्पना के माध्यम से विषय के तात्पर्य को सुनिश्चित करता है।

राजस्थान की लघुचित्रकला शैली अपनी व्यापक सृष्टि से अतिकल्पनात्मक रूप में लोकमन में व्याप्त है। यह मानव की अभिव्यजनात्मक एवं अद्भुत रहस्य की द्योतक है, इसी कारण यहाँ चित्रकर्म में आकारों के लिए समुचित परिवेश, विषयोचित भाव, नैतिक गुण धर्मों पर आधारित चित्र रचना से अनुपम रूपों की सृष्टि की है।

--○--

### सन्दर्भ ग्रन्थ

मिश्र, देवेन्द्र. भारतीय संस्कृति कोश. श्री पब्लिशिंग हाउस, 2016. पृ. 929.

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली. भारतीय दर्शन (1923). राजपाल पब्लिशिंग, 2016. पृ. 16.

राटौड़, मदन सिंह. आधुनिक भारतीय चित्रकला में अतियथार्थ. शर्मा पब्लिकेशन्स, 2001. पृ. 17.

विश्वकर्मा, राजकुमार. भारतीय चित्रकला में संगीत तत्व. प्रकाशन संभाग, भारत सरकार, 1996. पृ. 5.

सिंह, बच्चन. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द. वाणी प्रकाशन, 2015. पृ. 75.

Coomaraswamy, Ananda K. *Introduction to Indian Art*. Munshiram Manoharlal, 1999. p. 106.

Rawson, Philip. *Tantra: The Indian Cult of Ecstasy* (Art & Imagination Series) Bounty Books, 1984. p. 7.